कर दूसरों को भी उसका भागी बनाया जाए। राम राज्य में दोनों का उत्तम निदर्शन मिलता है। स्वयं राम ने भोग और त्याग के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत किया है। वे सीता का परित्याग करके पिता की आयु का भोग करते हुए ऐश्वर्य के वातावरण में भी निर्लिप्त रहे और अश्वमेध[1] के समय प्राप्त की गयी सम्पत्ति द्विजदेवों को दान कर दी।

हमारे यहाँ दो प्रकार के मार्ग बतलाये गये हैं : प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग। पहला गृहस्थ-जीवन का द्योतक है और दूसरा सन्यास का। अनेक आचार्य सन्यास को मुक्ति या भक्ति के लिए अनिवार्य मानते हैं। तुलसी समन्वयवादी हैं उनके मतानुसार घर में रहते हुए भी अनासक्त भाव से व्यवहार करने पर भगवद्भक्ति की उपलब्धि हो सकती है :

घर कीन्हें घर जात है घर छोड़े घर जाइ
तुलसी घर बन बीच ही रामप्रेम पुर छाइ॥[2]

राजा और प्रजा : किसी भी देश और समाज की सुख-समृद्धि के लिए राजा तथा प्रजा का समन्वित प्रयास अपेक्षित है। आधुनिक सन्दर्भ में जनता प्रजा है और राजा सत्ताधारी का प्रतीक है। तुलसी के युग में पशु-बल के भरोसे शासन करने वाले राजा और बादशाह कर्त्तव्य-च्युत हो गये थे, 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार प्रजा भी पाखण्ड-रत और पतित हो गयी थी।[1] समाज की यह दुर्दशा खेदजनक थी। आदर्श राम-राज्य में तुलसी ने राजा और प्रजा के अभीष्ट समन्वय का विधान किया। राजभक्त प्रजा धर्म-निरत थी और प्रजापालन-परायण राम ने नागरिकों को उचित गौरव दिया :

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई॥
जौं अनीति कुछ भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥[3]

राजतन्त्र और जनतन्त्र के समन्वय का यह निर्देश युग की परिसीमित पृष्ठभूमि में किया गया है।

संस्कृति-समन्वय : तुलसी-साहित्य में पाँच भिन्न जातियों के पात्रों का चित्रण हुआ है : देव, दानव, नर, वानर और तिर्यक्। प्रत्येक समुदाय की अपनी संस्कृति है। किसी समाज की सौन्दर्यमूलक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और दार्शनिक विचारधारा का द्योतक 'संस्कृति' शब्द मानव के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त होता है। वानरों या पक्षियों की संस्कृति की चर्चा नहीं की जाती है। परन्तु, तुलसी के सुग्रीव और हनुमान अथवा काकभुशुंडि और गरुड़ साधारण वानर या पक्षी मात्र नहीं हैं। उनमें विवेकशीलता और भक्तिमत्ता है। उनके संस्कार मनुष्य की भाँति विकसित हैं। इन्हें छोड़ देने पर भी तुलसी ने देवताओं, राक्षसों और मनुष्यों की संस्कृतियों का समन्वय करते हुए अन्त में रामराज्य की स्थापना द्वारा मानव-संस्कृति की श्रेष्ठता दिखाकर मानवता की प्रतिष्ठा की है।

मानव-संस्कृति के भीतर भी समन्वय दृष्टिगोचर होता है। राज्य-वर्ग, वन-पथ के जनसाधारण और कोलकिरातों की जीवन-पद्धति में भिन्नता है। उसके अनुरूप उन्होंने आचरण किया है। तुलसी ने राम के सम्बन्ध से उन सबका समन्वय किया है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात है हिन्दू-संस्कृति के साथ मुस्लिम-संस्कृति का समन्वय। तुलसीदास सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति के दृढ़निष्ठ अनुयायी थे, किन्तु उनकी दृष्टि संकुचित नहीं थी। उन्होंने उदारता के साथ कवि-कर्त्तव्य का निर्वाह किया है। राम की सेवा में प्रेषित विनयपत्रिका का विधान मुगल-सम्राट के पास भेजी जाने वाली अरजी की रीति पर किया गया। 'उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए' अथवा 'भइ बड़ि भीर भूप दरबार' में दरबारी संस्कृति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है।[1] तलवार आदि शस्त्रों के वर्णन तथा अरबी-फारसी-शब्दावली के प्रचुर प्रयोग में भी यह सांस्कृतिक समन्वय परिलक्ष्य है।

---

१. गीतावली, ७।२५; रामचरितमानस, ७।२४।१
२. दोहावली, २५६; देखिए : भागवतपुराण, ५।१-१७-१८
३. रामचरितमानस, ७।४३।२-३; और देखिए : २।५।२-३

१. भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

२. प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

व्यक्ति और समाज : मुक्ति और भक्ति व्यक्तिगत वस्तुएँ हैं। तुलसी का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति है। परन्तु, उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के प्रति भी व्यक्ति के कुछ कर्तव्य हैं। अतएव अपनी वृत्तियों के उदात्तीकरण के साथ ही उसे समाज का भी उन्नयन करना चाहिए। तुलसी के सज्जन पात्र इसी प्रकार का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति और समाज, आत्मपक्ष और लोकपक्ष, के समन्वय द्वारा तुलसी ने धर्म की सर्वतोमुख-रक्षा का प्रयास किया है।

व्यक्ति और परिवार : गृहस्थाश्रम सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का आधार है। इसलिए व्यक्ति के निर्माण और कर्तव्य की दृष्टि से जीवन में परिवार का स्थान महत्त्वपूर्ण है। दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, राम, भरत, लक्ष्मण, सीता आदि के माध्यम से तुलसी ने पारिवारिक जीवन का जो महान् आदर्श प्रस्तुत किया है वह सभी के लिए अनुकरणीय है। विभिन्न पात्रों का पारस्परिक सम्बन्ध स्नेह और शील की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित है। लक्ष्मण और भरत की 'भ्रातृ-भक्ति' तो अप्रतिम है। भरत से मिलकर सुग्रीव और विभीषण आत्मग्लानि से गड़ गये थे :

सघन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यों फेंट।
त्यों सुग्रीव बिभीषनहिं भई भरत की भेंट॥
राम सराहे भरत उठि मिले राम सम जानि।
तदपि बिभीषन कीसपति तुलसी गरत गलानि॥[1]

साधुमत और लोकमत : तुलसी की धर्म-भावना में इन दोनों का भी सामंजस्य पाया जाता है। सज्जनों के शील के अनुसार व्यक्तिगत धर्म-साधना 'साधुमत' है। व्यक्ति का सात्त्विक होना ही पर्याप्त नहीं है, उसका सदा-चरण लोक-सम्मत भी होना चाहिए। लोक-मर्यादा और लोक-शासन के लिए लोकमत की रक्षा अभीष्ट है। उसका अनुसरण करते हुए राम ने अग्नि-परीक्षित सीता को निर्वासित किया, और साधुमत के अनुसार सीता तथा लक्ष्मण ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया।[2] काकभुशुण्डि के गुरु ने साधुमत का आचरण करते हुए क्रोध नहीं किया, किन्तु लोकमत की रक्षा के लिए शिव ने भुशुण्डि को शाप देकर दण्डित किया।[3]

वेदशास्त्र और व्यवहार : तुलसी ने अपनी रचनाओं में वेद, पुराण आदि की आप्तता (प्रामाणिकता) का बारम्बार हवाला दिया है। उनका धर्मशास्त्रीय निरूपण बुद्धि विलास नहीं है। उनके पात्र वेदशास्त्र के मत को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करके दोनों का समन्वय उपस्थित करते हैं। इसीलिए विभिन्न संस्कारों का अनुष्ठान उन्होंने वैदिक और लौकिक रीतियों की समन्वित पद्धति से कराया है।[4] उनकी कविता-सरिता लोक और वेदमत दोनों के बीच से बहती है :

चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥
सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक बेदमत मंजुल कूला॥[5]

भोग और त्याग : त्यागपूर्वक भोग धर्मशील का आदर्श है। इसके दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक यह कि अनासक्त भाव से कर्म के सुफल का भोग किया जाए। दूसरा यह कि सुख-भोग को अपने तक ही सीमित न रख

---

१. दोहावली, २०७, २०८
२. गीतावली, ७।२७-२९
३. रामचरितमानस, ७।१०५-७।१०७
४. जानकीमंगल, १४२; पार्वतीमंगल, १४४; रामचरितमानस, १।३२०।१
५. रामचरितमानस, १।३९।६

यह है कि जगत प्रवाह-रूप से नित्य है[1]। कभी वह कारण-रूप में अव्यक्त रहता है, और कभी कार्य-रूप में व्यक्त। राम से भिन्न प्रतीत होने वाला उसका कार्य-रूप दृश्य जगत् परिवर्तनशील होने के कारण मिथ्या है। ज्ञान का उदय होने पर सम्पूर्ण विश्व राममय दिखायी देने लगता है तब विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।[2]

दूसरे शब्दों में, तुलसी ने द्वैतवादी और अद्वैतवादी मतों का समन्वय किया है। राम और जगत् में तत्त्वतः अभेद है, किन्तु प्रतीयमान व्यावहारिक भेद भी।[3]

जीव का भेद-अभेद : तुलसी का जीव-विषयक सिद्धान्त वैष्णव-वेदान्तियों के मतों का समन्वय है। रामानुज और वल्लभ के अनुसार जीव ईश्वर का अंश, नित्य, ज्ञाता, कर्ता भोक्ता, ईश्वराधीन आदि है।[4] मध्व ने प्रत्येक जीव को अन्य जीवों से, और परमात्मा से तत्त्वतः भिन्न माना है। तुलसी ने भेदवाद और अभेदवाद दोनों का समन्वय किया है। स्वरूप की दृष्टि से जीव और ईश्वर में अभेद है। वह ईश्वर का अंश है, अतः ईश्वर की भाँति ही सत्य, चेतन एवं आनन्दमय है।[5] ऐश्वर्य आदि की दृष्टि से दोनों में भेद है।[6] जीवों की संख्या अनन्त है। जीव ईश्वर का अंश मात्र है। वह माया का स्वामी नहीं है। मुक्त होने पर ईश्वर का स्वरूप तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु ऐश्वर्य नहीं। उसका सारूप्य भोगसाम्य तक ही सीमित है। उसमें ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता नहीं आती।

भाग्य और पुरुषार्थ : इस सम्बन्ध में प्राचीनकाल से ही विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। कुछ विद्वान् दैव को, कुछ स्वभाव को, कुछ काल को, कुछ पुरुषार्थ को, और कुछ इनके संयोग को फल प्राप्ति का कारण मानते हैं।[7] ये मत तीन वर्गों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं : दैववाद या भाग्यवाद, पुरुषकारवाद या पुरुषार्थवाद, और संयोगवाद या समन्वयवाद। तुलसी-साहित्य में तीनों प्रकार की उक्तियाँ मिलती हैं : कहीं पुरुषार्थवाद की प्रतिष्ठा है,[8] कहीं भाग्यवाद का उपस्थापन है,[9] और कहीं समन्वयवाद की स्थापना है।[10] प्रश्न उठता है : तुलसी का सिद्धान्त क्या है? उत्तर है : समन्वयवाद। वस्तुतः पौरुष ही प्रधान है,[11] प्राक्तन (पूर्वदेहार्जित) पौरुष का नाम ही दैव या भाग्य है।[12] जिस पौरुष के साथ फल के कार्य-कारण-सम्बन्ध को हम मिला नहीं पाते उसी को भाग्य कह दिया करते हैं। इस जन्म की सफलता में भी पूर्वजन्म का पौरुष सहायक होता है, सिद्धि का रथ पौरुष और भाग्य के दोनों पहियों पर चलता है।[13] याज्ञवल्क्य आदि की भाँति तुलसी भी समन्वयवादी हैं।

Scanned with CamScanner

अपने अनुभव, अन्वेषण, शास्त्रज्ञान और सहृदयता के आधार पर कवित्व-धर्म और भक्ति की विषयता का निर्माण किया। उनकी समन्वय-साधना बहुमुखी है।

द्वैत-अद्वैत : तुलसी का दार्शनिक समन्वयवाद अत्यन्त विवाद का विषय रहा है। तुलसी के युग में वेदान्त का प्रभुत्व था। उसके भीतर भी दो प्रकार के संघर्ष थे। १. सभी वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और मायावाद के विरोधी थे। २. सभी अद्वैतवादी[1] मध्व के द्वैतवाद के विरोधी थे। तुलसी शंकर के ब्रह्मवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से मुख्यतया प्रभावित हैं। परन्तु अन्य मतों से भी उन्होंने विचार ग्रहण किये हैं।[2] यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपनिषदों और वेदान्त-सम्प्रदायों में जो मान्यताएँ समान रूप से पायी जाती हैं वे तुलसी को स्वीकार्य हैं, जैसे : ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह जगत् कारण है, आदि। परन्तु जहाँ अद्वैतवादियों और वैष्णव-वेदान्तियों में मतभेद है वहाँ उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। केवलाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण, निर्विशेष और निर्लिप्त है, अर्थात् उसमें कृपा आदि विशेषताएँ नहीं हैं; माया अविद्या है, उसके अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता; माया की उपाधि से युक्त सगुण ब्रह्म (ईश्वर) ही अवतार लेता है; एकमात्र (निर्गुण) ब्रह्म ही सत्य है; जीव, जगत् और 'ईश्वर' सब मिथ्या हैं; केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन है; आत्मास्वरूप में स्थित हो जाना (जीव के जीवत्व का नाश) ही मुक्ति है। वैष्णव आचार्यों के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः सगुण अर्थात् कृपा आदि दिव्य गुणों से युक्त है, वही कृष्ण आदि के रूप में अवतार लेता है; उसी की शक्ति माया है; जीव उसी का अंश है; भिन्न प्रतीत होने वाला जगत् तत्त्वतः उससे अभिन्न है; भक्ति मुक्ति का अमोघ साधन है; सालोक्य आदि मुक्तियाँ श्रेष्ठ हैं।

निर्गुण और सगुण : निर्गुण और सगुण का विवाद दो क्षेत्रों में था, दर्शन के क्षेत्र में और भक्ति के क्षेत्र में। शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्मवाद के विरुद्ध रामानुज और वल्लभ ने बहुत बल देकर ब्रह्म को स्वभावतः सगुण बतलाया था।[3] दोनों का समन्वय करते हुए तुलसी ने राम को बारम्बार निर्गुण-सगुण-स्वरूप कहा है[4]

१. सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥

२. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

३. जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने॥

वस्तुतः राम एक हैं। वे ही निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार, अव्यक्त और व्यक्त, अन्तर्यामी और बहिर्यामी, गुणातीत और गुणाश्रय हैं।[5] निर्गुण राम ही भक्तों के प्रेम-वश सगुण-रूप में प्रकट होते हैं।[6] दोनों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। यह विश्वास की बात है। अपनी प्रीति-प्रतीति के अनुसार भक्त उन्हें किसी भी रूप में भज सकता है। तुलसी और उनके काव्य में अंकित भक्त सगुण-रूप के उपासक हैं : क्योंकि सगुण राम की भुजाएँ ही भक्तों पर छाया करती आयी हैं, कर रही हैं और करती रहेंगी।[7] इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। भक्त अपने चारों ओर इस भगवान् को देखना चाहता है, जो संकट के समय काम आ सके। इसीलिए भक्तों की दृष्टि

Scanned with CamScanner

निर्गुण और सगुण ...
की स्थापना। इन दोनों ही दृष्टियों में तुलसीदास समन्वयवादी हैं।

समन्वयवाद भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। समय-समय पर इस देश में कितनी ही संस्कृतियों का आगमन और आविर्भाव हुआ, परन्तु वे घुल-मिल कर एक हो गयीं। कितनी ही दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक और सौन्दर्यमूलक विचारधाराओं का विकास हुआ; किन्तु उनकी परिणति संगम के रूप में हुई। भारतीय विचारकों की सारग्राहिणी प्रतिभा ने दूसरों की ग्राह्य मान्यताओं को निस्संकोच भाव से ग्रहण किया। यह समन्वय-भावना का ही परिणाम है कि नास्तिक बौद्धों ने राम को बोधिसत्व मान लिया, और आस्तिक वैष्णवों ने बुद्ध की अवतार-रूप में प्रतिष्ठा की। सांख्य योग एवं न्याय-वैशेषिक में वेदांत के ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी, और वेदांत में सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया, योग की ज्ञान-साधना तथा न्याय की तर्क-प्रणाली को गौरव दिया गया। अर्थ-काम और धर्म-मोक्ष में, वेद-शास्त्र और लोक-परम्परा में, प्रवृत्ति और निवृत्ति में, साहित्य और जीवन में समन्वय स्थापित करने के विराट् प्रयत्न किये गये; अनेकता में एकता की स्थापना की गई, वैषम्य में साम्य का दर्शन किया गया।

समन्वय के देश में महान् लोकनायक वही हो सकता है जिसमें विशाल समन्वय बुद्धि हो और जो उस बुद्धि का सदुपयोग कर सके। धर्मदर्शन और समाज-सुधार के क्षेत्र में गौतम बुद्ध इसी प्रकार के लोकनायक थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित 'मध्यमा प्रतिपदा' त्याग और भोग के समन्वय का ही मार्ग है। वाङ्मय के क्षेत्र में समन्वय साधना के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण विद्यमान हैं। उनमें भगवतपुराण और महाभारत का स्थान अन्यतम है। उनमें विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय है, रोचक कथाओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान का उपस्थापन है। किन्तु कांतासम्मित उपदेश का विधान करने वाले लालित्यपूर्ण काव्य की सरसता नहीं है। वे संस्कृत में लिखे गये थे, अतः तुलसीयुगीन लोकमानस का नेतृत्व करने में असमर्थ थे। लोकदर्शी तुलसी ने जनता के हृदय की धड़कन को पहचाना और रामचरितमानस के रूप में वह आदर्श प्रस्तुत किया जिसमें कवित्व और भक्ति-दर्शन का अद्भुत समन्वय है, जो अनपढ़ देहातियों और शास्त्रज्ञ पंडितों के समाज में समान रूप से समादृत है।

समन्वय-सिद्धांत का ...

Scanned with CamScanner